ISSN: 2456–4397 RNI No.UPBIL/2016/68067 Vol-6* Issue-7* October-2021
Anthology : The Research

श्रीमद् भगवद्गीता का कला की दृष्टि से विवेचन
Interpretation of Shrimad Bhagavad Gita from the Point of View of Art

Paper Submission: 10/10/2021, Date of Acceptance: 23/10/2021, Date of Publication: 24/10/2021

जयंतिभाई एस० मकवाणा
विभागाध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
एस० डी० आर्ट्स् एण्ड बी० आर० कामर्स कोलेज,
माणसा, गांधीनगर,
गुजरात, भारत

सारांश

गीता हिन्दुओं का प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों में से एक है। यह काव्यग्रन्थ भारत का अनुपम पौराणिक, ऐतिहासकि और दार्शनिक ग्रन्थ है। विश्व का सब से दीर्घ यह साहित्य ग्रन्थ हिन्दूओ के मूख्य ग्रन्थो में से एक है। गीता न केवल एक धार्मिक ग्रन्थ मात्र है अपितु वह काव्यगुणों से ओतप्रोत रसभावयुक्त उत्तम कलाकृति भी है। यहां गीता का कला की दष्टि से विवेचन किया गया है। जिसमें उनका स्वरूप के विभिन्न अंगो का जैसे छंद, अलंकार, रस आदि का आकलन किया गया है। धार्मिक रूचिवालों को तो सदीयों से गीता आकष्ट करती ही है परंतु कला रसिको को भी कला की द्रष्टि से जरूर आकुष्ट करती है।

Gita is one of the main religious texts of Hindus. This poetry book is a unique mythological, historical and philosophical text of India. The world's longest literary text is one of the main texts of Hindus. The Gita is not only a religious text, but it is also an exquisite artwork full of poetic qualities. Here the Gita has been discussed from the point of view of art. In which the various parts of his form like verses, ornaments, rasa etc. have been assessed. Gita attracts those with religious interest since centuries, but art definitely attracts the sages also from the point of view of art.

मुख्य शब्दः स्वरूप, छंद, रस, भक्ति ।
Keywords: Swaroop, verse, Rasa, Bhakti .

प्रस्तावना

काव्य के बाहय और आंतरिक अंगो की परख के बिना काव्य के गुण या दोष का निष्कर्ष नहीं हो सकता। इसलिए यह जरुरी है कि किसी भी काव्य कृति की आलोचना कि जाय ताकि उसकी अनुपम सुंदरता की पहेचान या दोषदर्शन हो सकें। अलबत साहित्य सर्जन के व्यापार के साथ साथ साहित्य विवेचन व्यापार भी परस्पर जुड़े हुए है। विवेचन का अस्तिŸव कवि के मनःप्रदेश में पहले से ही विद्यमान होता है। गुजराती कवि कान्त ने ठीक ही कहा है कि 'सारे कवि विवेचक होता हैं। इसी वजह से साहित्य सर्जन प्रक्रिया मंे कलापक्ष अपने आप जूड़ जाते है।

काव्य - स्वरूप

भारतीय काव्यशास्त्रीओं के काव्यस्वरुप की परंपरा का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि व्यास, दण्ड़ी, जयदेव, विश्वनाथ तथा पण्डितराज आदि आचार्यो ने शब्द को काव्यलक्षण का मूलाधार माना है, तो भरत, भामह, वामन, रूद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, कुन्तक, भोज, महिम भट्ट, मम्मट, हेमचन्द्र, रुय्यक, वाग्भट्ट, विद्याधर इत्यादि आचार्यो ने काव्य की परिभाषा के निर्माण में शब्द और अर्थ दोनों के समन्वय पर बल देकर उभय की समष्टि को स्वीकारा है।

व्यास के अनुसार अभीष्ट अर्थ को संक्षेप में प्रकट कर देने वाले पदसमूह को काव्य कहते है।[१] कतिपय यही बात दण्ड़ी भी स्वीकारते है।[२] पूर्णरुप से काव्य - लक्षण का प्रारंभ भामह ने किया है, जिन्हों ने शब्द तथा अर्थ के सहभाव को काव्य की संज्ञा दी है।[३] अर्थात् शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य कहते है। लेकिन भामह इस साहित्य अर्थात् सहभाव की व्याख्या नहीं करते है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वे शब्दार्थ को दोषरहित एवं सालंकार मानने के पक्षधर है। आचार्य आन्दवर्धन ने अलंकार, गुण, रीति इत्यादि को काव्य का शरीर बताते हुए ध्वनि तत्वको काव्यात्मक रुप में प्रतिष्ठित किया। अलबत आन्दवर्धन ने स्पष्टरुप से काव्यलक्षण नहीं किया लेकिन अभाववादियों के मत के विश्लेषण में उन्हों ने शब्दार्थ में काव्यत्व को स्वीकार किया है।[४] वामन ने अलंकार को अनित्य धर्म के रुप में स्वीकारा है, तथा रीति अथवा गुण को ही काव्य का मूल तŸव के रुप में स्वीकारा है।[५] कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित बताते हुए शब्द - अर्थ को काव्य स्वीकारा है।[६] भोजराज के अनुसार काव्य का वैशिष्ट्य है - दोषरहित, गुणयुक्तता, सालंकृति एवं सरसत्व।[७] आचार्य मम्मट ने भामह से लेकर अपने समय तक प्रचलित सभी काव्यलक्षणों का समन्वय प्रस्तुत किया। उनके अनुसार दोषरहित, गुणयुक्त तथा सालंकार शब्दार्थयुगल को काव्य कहते है।[८] पण्ड़ितराज जगन्नाथ के अनुसार रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है।९ यहां 'रमणीयता' से उनका अभिप्राय लोकोत्तर - आह्लादजनक (उत्पादक) ज्ञान के विषय है। रमणीय अर्थ उसे कहते है, जिसके ज्ञान से या जिसके बार - बार अनुसंधान करने से अलौकिक या लोकोŸार आनंद प्राप्त हो।

तात्पर्य यह है कि काव्य से केवल सांसारिक लाभ होता हे, जो अनित्य - क्षणिक है, स्थिर रहनेवाला नहीं है। लेकिन गीता के अध्ययन - अध्यापन, सुनना - सुनाना, विचार - चिन्तन, अनुष्ठान करने से कुछ भी

करना, जानना और प्राप्त करने का बचता नहीं इससे पारमार्थिक लाभ की प्राप्ति होती है, उससे श्रेष्ठ कोई ओर लाभ होता नहीं३६ ; क्युंकि वह पारमार्थिक लाभ नित्य है, सदैव रहने वाला - स्थिर है।

अध्ययन का उद्देश्य

इस संशोधन का प्रमुख उद्देश्य गीता के तŸवदर्शन को जानने के साथ साथ गीता का कलापक्ष का निरूपण करने का भी है। कलापक्ष के साथ हमारा गीता में निहित ज्ञान, कर्म और भक्ति का पूर्णरूप से परिचय पाना है। किसी भी कृति का गहनरूप से आस्वाद लेने के लिए उनका कला की दृष्टि से विवेचन करना जरूरी हो जाता है, क्युंकि कला की दृष्टि से विवेचन करने से उसका उपदेश हृदयस्थ हो जाता है। अतः इस संशोधन का उद्देश्य यह प्रस्थातित करना है कि गीता केवल मोक्षधर्मी या निवृत्ति विषयक ग्रन्थ ही नहीं है। अपितु एक उत्तम काव्यगुणों से संपन्न कलाकृति भी है।

छन्द - अलंकार योजना

गीता में अर्जुन द्वारा की गई स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न विद्यमान है। स्तुति में भगवान का महिमा, गुण, प्रभाव आदि का गान है। प्रार्थना में भगवान के गुणों आदि को तŸव से जानने की और भगवान से कुछ पाने की ईच्छा होती है। अपने हृदय में कुछ संदेह, उथल - पुथल, जिज्ञासा होती है, उसको दूर करने के लिए प्रश्न होता है।

गीता अर्जुन द्वारा किए गए प्रश्न के उत्तर में भगवान द्वारा प्रस्तुत किया गया अद्भूत काव्य है। गीता अर्थात् यगेश्वर श्रीकृष्ण के मुखकमल से गाया हुआ माधुर्य और सौन्दर्य का वांग्मय स्वरुप। गीता एक छन्द®बद्ध कृति है, पद्यात्मक ग्रंथ है और भगवद्वाणी होने से वेदस्वरुप है।१ इस उपनिषद के वाक्यानुसार, यद्यपि महाभारत पंचमवेद है, फिर भी महाभारत और उन्हीं में समाविष्ट गीता का अध्ययन - श्रवण करने का अधिकार मनुष्यमात्र को है। मनुष्य किसी भी देश, वेश, सम्प्रदाय, जाति इत्यादि का क्यों न हो, वह महाभारत का अध्ययन करके उनमें निहित उत्तमोत्तम उपदेशों के अधिकार अनुसार आचरण में लाके स्वयं का कल्याण कर सकते है। महाभारत की रचना करने में महर्षि वेदव्यास का प्रधान उद्देश्य यही था कि जिनको शास्त्र - वेद का अभ्यास करने की आज्ञा नहीं है, ऐसे स्त्री, शूद्रो और पतित भी वेदों के महत्वपूर्ण ज्ञान से वंचित न रह जाय। यह ज्ञान भगवान द्वारा गीता में साररुप से वर्णित है। गीता में स्वयं भगवान ने स्त्री, वैश्य, शूद्र इत्यादि सभी को(नीज की शरणागति से) परमगति की प्राप्ति के अधिकारी कहा है।२ और गीताध्ययन में भी सभी को अधिकारी माना है। अलबत यहीं वैदिक छंद का नियम हि लागू होते है - इस दृष्टि से कुछ भी सोचने की जरुरत नहीं है, फिर भी यहां लौकिक दृष्टि से सोचा जाता है।

वैदिक दृष्टि से छंदों में यह नियम है - 'ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ'१ (पिङ्गल० ३/५९) अर्थात् एक अक्षर कम होने से उसका 'निचृत्' और एक अक्षर ज्यादा होने से 'भूरिक' नाम रहकर छंद का पहले का नाम रहता है। इनके अनुसार नव अक्षरोंवाला बृहती छंद का एक चरण आठ अक्षरों वाले अनुष्टुप छंद में और बारह अक्षरोंवाले जगती छंद के पांच चरण ग्यारह अक्षरोंवाले 'त्रिष्टुप' छंद में मील जाता है। इस तरह वैदिक दृष्टि से गीता में दो तरह के हि छंद हैः - अनुष्टुप और त्रिष्टुभ।

अनुष्टुप छंद

अनुष्टुप छंद के प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते है और पूरा श्लोक बत्तीस अक्षरों का होता है। अनुष्टुप छंद का दो प्रकार है - अनुष्टुप गणछंद और अनुष्टुप अक्षरछंद। प्रस्तार - भेद से अनुष्टुप गणछंद के २५६ भेद होते है और अनुष्टुप अक्षरछंद का लाखों भेद होते है। गीता में अनुष्टुप गणछंद नहीं है। गीता के अनुष्टुप छंदों में अर्धसम छंद प्रयुक्त हुआ है।

छंदशास्त्र में इस अर्धसम अनुष्टुप छंद के पहले और आठवें अक्षरों पर विचार - विमर्श नहि हुआ है। वह गुरू या लघु - दो हि मान्य है। चारों चरणों में पहले अक्षर के बाद (दूसरा, तीसरा और चौथा अक्षर का गण) 'सगण' और 'नगण' नहीं होना चाहिए - 'न प्रथमात्स्नौ'१ और दूसरे तथा चौथे चरणों में पहले अक्षर के बाद (दूसरा, तीसरा और चौथा अक्षर का गण) 'रगण' भी नहीं होना चाहिए - 'द्वितीयचतुर्थयो रथ।'२ यदि चारों चरणो में चतुर्थ अक्षर के बाद 'यगण' होगा तो इस श्लोक के छंद का नाम 'अनुष्टुब्वक्त्र' होगा - 'यश्चतुर्थात्'३ , "पादस्यानुष्टुब्वक्त्रम्।"४ यदि पहले और तीसरे चरणों में चौथे अक्षर के बाद 'यगण' तथा दूसरे तथा चौथे चरणों में चौथे अक्षर के बाद 'जगण' होगा तो उनका 'पथ्यावक्त्र' नाम होगा - 'पथ्या युजो ज्'५ , 'युजोर्जेन सरिôर्तुं पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्।'६ यह अर्धसम छंद है।

गीतामें इस अनुष्टुप छंद के श्लोक के दूसरे तथा चौथे चरणों में चौथे अक्षर के बाद सभी जगह 'जगण' उपयोग में लिया गया है। लेकिन पहले और तीसरे चरणों में बहुत से श्लोको में 'यगण' के स्थान पर अन्य गण भी आया है; उनके लिए यह नियम है कि इस प्रकार से जो गण उपयोग में लिया गया होगा, उनके नाम के शुरु के अक्षर के साथ 'विपुला' नाम जोड़ा (एक प्रकार का छंद या आर्या छंद का भेद) जायेगा। यदि केवल पहले चरण में अथवा केवल तीसरे चरण में अथवा पहले और तीसरे चरण - दोनों चरणों में हि 'यगण' के सिवा दूसरा गण होगा तो इस श्लोक के उस गण के नामवाले विपुलान्त नामवाला छंद होगा। गीतामें ऐसे न - विपुला, भ - विपुला, र - विपुला, म - विपुला और स - विपुला छंदो का प्रयोग हुआ है। इसके अन्तर्गत एक दूसरा भी नियम है - यदि पहले और तीसरे किसी एक चरण में 'यगण' के स्थान पर दूसरा गण होगा तो वह 'व्यक्तिपक्ष - विपुला', दोनों चरणों में ('यगण' के सिवा) एक जैसा गण होगा तो वह 'जातिपक्ष - विपुला' और दोनों चरणों में ('यगण' के सिवा) भिन्न -

भिन्न गण होगा तो वह 'संकीर्ण - विपुला' छंद कहा जाता है। यह सब 'पथ्यावक्त्र' का हि अवान्तर भेद है।

गीता में अनुष्टुप छंद के ६४५ श्लोकों में से ५०७ श्लोक 'पथ्यावक्त्र' के लक्षणवाला है। इनमें से पहले और तीसरे चरणों में 'यगण' आया है; इसलिए उन्हें 'य - विपुला' भी कह सकते हैं - 'य - विपुला यकारोऊब्धेः' (वाग्वल्लभ)। बाकी बचे १३८ श्लोकों में से (१) १२७ श्लोकों में पहला या तीसरा किसी एक चरण में 'यगण' के सिवा अन्य गण भी उपयोग में आया है, वह 'व्यक्तिपक्ष - विपुला' नामवाला श्लोक है। (२) तीन श्लोको में पहला और तीसरे चरणों में 'यगण' के सिवा एक ही तरह के अन्य गण भी उपयोग में आया है, वह 'जातिपक्ष - विपुला' नामवाले श्लोक है और (३) आठ श्लोको में से पहला और तीसरे चरणों में('यगण' के सिवा) भिन्न भिन्न गण भी उपयोग में लिया गया है, वह 'संकीर्ण - विपुला' नाम वाले श्लोक है। इस तरह गीता में प्रधानरुप से अनुष्टुप छन्द का प्रयोग हुआ है। आगे कहा गया है ऐसे अनुष्टुप के हर चरण में आठ अक्षर होते है, जिसमें पहले चार अक्षर®ं का प्रभाव विषयक क®ई विशिष्ट नियंत्रण नहीं है। केवल अंतमि अक्षर (यानी पांच से आठ तक का) में से पांचवा अक्षर लघु और छठा अक्षर गुरु ह®ना चाहिए ऐसा नियम सामान्य रुप से स्वीकार किया है। इसलिए अनुष्टुप के पाद के उतरार्ध में लघुगुरु की वर्शिष्टता से पंउइपब तीलजीउ उत्पन्न होती है। महाभारत का प्राचीन भाग में अनुष्टुप - वैदिक अनुष्टुभ् है, जिसमे आठ अक्षर वाला चार चरण होता हैं और लघु - गुरु का क्रम सम्बन्धि क®ई नियम नहीं होता जिसके कारण महाभारत के इस श्लोक बन्ध की अनेक विकृतियाँ बनी हुई है, जिसकी वजह से महाभारत जैसे दीर्घ प्रबन्ध काव्य में अनुष्टुप की लगभग निरंतर यजना होने पर भी लय की एकविधता टाली जा सकी है और अनुष्टुप का पूरा लाभ लिया जा सका है। गीता में भी अनुष्टुप की ऐसी विकृतियाँ नजर के सामने आयी है और विशष्टि लय निष्पन्न करती है जैसे - 'यावानर्थ उदपाने' (२ . ४६) में छठा अक्षर गुरु है, 'न हि कश्चित्क्षणामपि' (३ . ५५)में अन्तिम चार अक्षर लघु है, 'राजविद्या राजगुह्य (९ . २) या 'काम एषः क्रोध एषः' (३ . ३७), जैसे स्थान में समग्र लय लघुगुरु बन्धवाला (जतवबींपब) हो गया है। इस तरह अनेक उदाहरण दिया जा सकता है। गीता में अनुष्टुप के स्वरुप की इस स्थितिस्थापकता, लय वैविध्य और इस में से उत्पन्न नादसौन्दर्य रसानुभूति कराता है। इस छन्द भेद और उसमे से निष्पन्न ह®नेवाले लयभेद का कितना महत्व है वह एकावन में श्लोक में पुनः स्वस्थ बने अर्जुन की उक्ति में रहा अनुष्टुप से पता चलता है। इस तरह गीता का अनुष्टुप हर पाद या चरण में ५ - ६ - ७ अक्षरवाला नियमबद्ध अनुष्टुप है।

त्रष्टुभ छन्द

त्रिष्टुप छंद के प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर होते है और पूरा श्लोक चव्वालीस अक्षरों वाला होता है। प्रस्तार से उनका २०४८ प्रकार होता है, लेकिन वह सब नाम नहीं मिलता। छंद - ग्रन्थ 'वाग्वल्लभ' में इस प्रकार के केवल ११२ नाम दिया गया है। बारह अक्षरवाला जगती छंद को त्रिष्टुप छंद में हि समाविष्ट किया गया है। आठवें अध्याय के दशवें श्ल®क में तीन चरण त्रिष्टुप का (ग्यारह अक्षरवाला) है और अंतमि चरण जगती का(बारह अक्षरवाला) है। चरण®ं का यह लघुगुरु बन्ध निराला है। गीता में त्रिष्टुप छंद के पचपन श्लोक है।

उपजाति छन्दः

जिस श्लोक का कोई चरण ईन्द्रवज्रा और कोई उपेन्द्रवज्रा के लक्षणवाले होते है उसे मुख्य उपजाति छंद कहा जाता है। उनका चौदाह प्रमुख भेद है -

चेदिन्द्रवज्रावरणानि यस्यामुपेन्द्रवज्राचरणानि च स्युः ।
तदोपजातिः कथिता कवीन्द्रैर्भेदा भवन्तीह चतुर्दशास्याः ॥ (वाग्वल्नभ)

(२) जिस श्लोक का प्रत्येक चरण भिन्न भिन्न छंद का होते है, ऐसे छंद का नाम उपजाति है - इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु स्मरन्ति जातिष्विदमेव नाम।१

(३) विषम अक्षरवाले त्रिष्टुभ और जगती के मिलने से उसका नाम भी उपजाति कहा जाता है। प्राचीन आचार्यो ने उन्हें 'गाथा' नाम दिया है - 'आद्यन्तबावुजातयः।'[२] इस सूत्र पर 'हलायुध - वृत्ति' और उन्हीं पर लिखी गई श्रीजीवानंद विद्यासागर की टीका 'सुबोधिनी' में लिखा गया है कि - तत्रोपजातिर्विविधा विदग्धैः संयोज्यते तु व्यवहारकाले।

इस तरह गीता में ईन्द्रवज्रा छंद के तीन, उपेन्द्रवज्रा छंद के भी तीन, ईन्द्रवज्रा - उपेन्द्रवज्रा - मिश्रित मुख्य उपजाति के पन्द्रह और भिन्न भिन्न छंद - मिश्रित उपजाति के चौंत्तीस श्लोक है। ग्यारह अक्षरोंवाला उपजाती छन्द वैदकि त्रिष्टुभ् छन्दमें से विकसित ह®ने पर भी गीता का उपजाति प्रशिष्ट संस्कृत में प्रयजाने वाला उपजाती है। त्रिष्टुप की तरह अक्षरमेल नहीं है 'त्रैविद्या मां समपाः पूतपापाः३ जैसे श्लोक में शिष्टकालीन शालिनी छन्द का रुप य®जित हुआ है। ग्यारहवें अध्याय के कुछ श्लोक में उपेंद्रवज्रा या ईन्द्रवज्रा के बन्धवाली पंक्ति है। ग्यारह में अध्याय में स्वीकृत छन्दयजना से अनुमान हो सकता है कि केवल वर्णन या कथन के लिए अनुष्टुप छन्द का प्रय®ग किया गया है और भावाविष्ट पात्र की उक्ति के लिए त्रिष्टुप जाती के (ग्यारह अक्षरवाला) छन्द की पसंदगी की गई है। यहां गीता में निरुपीत छंदो की यादी प्रस्तुत है -

(१) ईन्द्रवज्रा छंदः- (१) वेदेषु यज्ञेषु.... । ८. २८ (२) निर्मानमोहा.....। १५. ५ (३) सर्वस्य चाहहें.....। १५. १५

(२) उपेन्द्रवज्रा छंदः- (१) यथा नदीनां.....। ११. २८ (२) यथा प्रदीप्तं....। ११. २९ (३) अदृष्टपूर्व.....। ११. ४५

(३) ईन्द्रवज्रा - उपेन्द्रवज्रा - मिश्रित मुख्य उपजाति छंदः- इस तरह का १५ श्लोक है, जो यहां प्रस्तुत है - (१) न हि प्रपश्यामि.....॥२. ८ (जिसमें पहला और तीसरा पाद उपेन्द्रवज्रा तथा दूसरा और चौथा पाद ईन्द्रवज्रा का है।) (२) वासांसि जीर्णानि....॥२. २२ (जिसमें पहला और चौथा पाद ईन्द्रवज्रा तथा दूसरा और तीसरा पाद उपेन्द्रवज्रा का है।) (३) पश्यामि देवां.....॥११. १५ (जिसमें प्रथम तीनों चरणों ईन्द्रवज्रा का है तथा चौथा पाद उपेन्द्रवज्रा का है।) (४) अनादिमध्यान्त....॥११. १९(जिसमें प्रथम तीनों चरणों उपेन्द्रवज्रा का है तथा चौथा पाद ईन्द्रवज्रा का है।) (५) नमःस्पृशं..... ॥११. २४ (जिसमें पहला और चौथा पाद उपेन्द्रवज्रा तथा दूसरा और तीसरा पाद ईन्द्रवज्रा का है।) (६) द्रंष्टाकरालानि.....॥११. २५ (जिसमें प्रथम दोनों पाद ईन्द्रवज्रा का तथा दूसरा दोनों पाद उपेन्द्रवज्रा का है।) (७) द्रोणं च भीष्मं....॥११. ३४ (जिसमें प्रथम, दूसरा तथा चौथा पाद इन्द्रवज्रा का तथा तीसरा पाद उपेन्द्रवज्रा का है।) (८) स्थाने हृषीकेश..... ॥११. ३६(जिसमें प्रथम, तीसरा तथा चौथा इन्द्रवज्रा का तथा दूसरा पाद उपेन्द्रवज्रा का है।) (९) त्वमादिदेव.....॥११. ३८(जिसमें प्रथम, दूसरा तथा चौथा पाद उपेन्द्रवज्रा का तथा तीसरा पाद ईन्द्रवज्रा का है।) (१०) वायुर्यमोर्ऽिनः....॥११. ३९(जिसमें प्रथम पाद इन्द्रवज्रा का तथा शेष तीनों पाद उपेन्द्रवज्रा का है।) (११) नमः पुरस्तादथ..... ॥११. ४० (जिसमें प्रथम तीनों चरणों उपेन्द्रवज्रा का है तथा चौथा पाद का ईन्द्रवज्रा है।)

अलंकार

अलंकार सुंदरता प्रदान करता है। यह सुंदरता दो तरह से होती है - शब्द से और अर्थ से। जिस श्लोक या वाक्य में शब्दों या अक्षरों की वजह से सुंदरता निषपन्न होती है, उसे 'शब्दालंकार' कहा जाता है; जैसे - 'तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान्'१ - इस वाक्य में 'प' वर्ण की वजह से सुंदरता है। जिस श्लोक या वाक्य में अर्थ की वजह से सुंदरता होती है उसे अर्थालंकार कहा जाता है ; जैसे - 'वायुर्नावमिवाम्भसि।'२

इस तरह गीता में अनेक अलंकार की यजना हने से उनका काव्यत्व और दीप्तिमान बना है।

(क) अनुप्रासः जहां 'अ, आ....' इत्यादि स्वरों की भिन्नता होते हुये भी 'क, ख....' इत्यादि व्यंजनो में समानता होती है, वहां 'अनुप्रास' अलंकार होता है। पांचवे अध्याय के आठवें - नवमें श्लोक में 'पश्यन्श्रृण्वन्स्पृहिजघ्रन्.....' आदि पदों में 'न' व्यंजन की समानता है। ऐसे हि पांचवे अध्याय के सत्तर में श्लोक में 'तद्बुद्धयस्मदात्मानः.....' इत्यादि पदों में 'त' व्यंजन की समानता है।

(ख) उपमाः जिसे उपमा दि जाती है, उसे 'उपमेय' कहा जाता है और जिसकी उपमा दि जाती है, वह 'उपमान' होता है। जहां उपमेय को उपमान जैसा दिखाया जाता है, वहां 'उपमा अलंकार' होता है। उदाहरण -

१. देहिन®ड़स्मिन्यथा देहे.....२/१३ २. वासांसि जीर्णानि यथा....२/२२ ३. यदा संहरते चायं...२/५८ ४. तदस्य हरति प्रज्ञां.....२/६७ ५. आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं.....२/७० ६. धूमेनाव्रियते.....३/३८ ७. यथा दीप®.... ६/१९ ८. वाय®रिव सुदुष्करम्.....६/३४ ९. यथा नदीनां.....११/२८ १०. यथा प्रदीप्तं...११/२९.

(ग) रुपकः जहां उपमान के सर्व अवयवो को उपमेय में दिखा के उपमेय को उपमान की तरह हि दिखाया जाय, वहां 'रूपक अलंकार' होता है। उपमेय के उदाहरण -

पंद्रहवां अध्याय के आरंभ में हुआ संसार वृक्ष का उद्गम, विकास और उसके अंग®पांग के वररण में रुपक अलंकार की सुन्दर य®जना है जैसे - ऊर्ध्वमूलमधःशाखा.....२/११, अधश्चोर्ध्व.... इस वर्णन में संसार वृक्ष की विलक्षणता और सुन्दरता एवं उर्ध्वमूल ह®ने की भव्यता सांगरुपक द्वारा व्यक्त हुई है।

इसके उपरांत रुपक अलंकार का ध्यानाकर्षक अन्य उदाहरण इस तरह है जैसे -

१. जहि शत्रुं.....३/४३ २. तेषामहं समुद्धर्ता....१२/२७ ३. ज्ञानासिना...४/४२ ४. ज्ञानप्लवेन.....४/३६ ५. नवद्वारे पुरे....५/१३ ६. ध्यायतो विषयानपुंसः.....२/६२

सुखिनः क्षत्रियाः..... २/३२ इस पंक्ति में विशेष प्रस्तुत है और सामान्य द्वारा निरुपीत किया गया होने से अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण बनता है। दिवि सूर्य....११/२२ मे अतिशयोक्ति अलंकार है। मालोपमा का उदाहरण पितेव पुत्रस्य.....११/४४।

(घ) दृष्टांतः दृष्टांत (निश्चित) को दृार्ष्टान्त - (अनिश्चित) में प्रतिबिंबित करना यानि दृष्टांत जैसा धर्म है, वैसा हि धर्म दृार्ष्टान्त में भी दिखाया जाय - वही दृष्टांत अलंकार है। नवम अध्याय के छठे श्लोक में आकाश में विद्यमान वायु का दृष्टांत देकर दृार्ष्टान्त में प्राणी मात्र को भगवान में स्थित दर्शाया गया है। दूसरे अध्याय के सत्तर में श्लोक में, तेरह में अध्याय के बŸीस - तेंŸीस श्लोक में भी इसी अलंकार का प्रयोग हुआ है। (ज) उत्प्रेक्षाः जो चीज वैसी नहीं होती फिर भी ऐसी ही कल्पना करना उसे 'उत्प्रेक्षा अलंकार'

कहा जाता है। ग्यारहमें अध्याय के बारहमें श्लोक में विराट रुप के प्रकाश के समान हजारों सूर्यो के प्रकाश न होने पर भी हजारों सूर्यो के प्रकाश की कल्पना की गई है।

इस तरह विभिन्न अलंकार योंजना से भ.गीता का काव्यतत्व और निखरा है यह स्पष्ट ह®ता है।

रस निरुपण

भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक के आचार्यो ने साहित्य के नव रसों का स्वीकार किया है। लेकिन भामह, दण्डी आदि के मान्य 'प्रेयस' अलंकार में जिन रत्यादिक भावों का समावेश होता था, उनमें पुत्र विषयक रति की तरह देवाधिविषयक रति की भी गणना की जा सकती है। मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्तिरसायन' नामक ग्रन्थ में भक्ति के अलौकिक महŸव और रसत्व का विशद निरूपण करते हुए उसे एक अर दसवां रस बताया है, इतना ही नहीं उसे सर्व रस से श्रेष्ठ भी माना है। 'भगवद्भक्ति चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ के रचयिता ने भी पराभक्ति क® रस कहा है -'पराभक्तिः प्रक्ता रस इति।'

गौड़ीय संप्रदाय के आचार्य रुप गस्वामी कृत 'भक्तिरसामृत सिन्धु' में काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भक्ति रस का विस्तार एक सुनिश्चत व्यवस्था के साथ किया गया है। रुप ग®स्वामी भी देवताविषयक रति क काव्यशास्त्रीय की भांति भाव मानते है। वे भक्ति रस विषयक स्थायीभाव के रूप में केवल कृष्णविषयक रति का मानते है। उनकी दृष्टि में कृष्ण या राम देवता नहीं, बल्कि साक्षात ईश्वर है अतएव वे रस के आलम्बन विभाव, भक्तों का समागम, तीर्थ, एकान्त पवित्र स्थल आदि उदीपन्न विभाव है; भगवान के नाम -संकीर्तन, लीला आदि का कीर्तन, रोमांच, गद्गद् होना, अश्रुप्रवाह, भावविभोर होकर नृत्य करना आदि अनुभाव है और ईर्ष्या, वितर्क, हर्ष, दैन्य आदि व्यभिचारी भाव है।

भक्तिमार्ग मानवीय प्रवृŸिा के अनुकूल होने की वजह से स्वाभाविक तथा सहज है।१ मनुष्य परम तŸव की अवधारणा निर्गुण और निराकार के रूप में नहीं कर सकता। भक्ति का आनंबन सगुण तथा साकार होता है, इसकी वजह यह है कि भक्ति एक भाव है और भाव हंमेशा आलंबन चाहता है।

'भक्ति रस' की निष्पŸिा शान्त रस से हुई या नहीं यह एक विवादास्पद प्रश्न है। सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि भक्ति रस का विकास स्वतन्त्र रुप से हुआ है और बाद में अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त में भक्ति की स्थापना के बाद भक्त साधको ने शान्तिभक्ति रति या शान्तभक्ति रस जैसी एक मान्यता स्थापित करके उसे अपने में अकेन्द्रिय संवेदना 'शान्त रस' के रुप में स्वीकार की है।

अन्तर्मुख कर लिया। इसका सबसे बडा लक्ष्य यह है कि शान्त रस के प्रथम समर्थक अभिनव गुप्त भक्ति रस का भिन्न रुप में उल्लेख करते है और इस भक्ति रस को रस नहीं मानते। आचार्य आन्दवर्धन ने भी महाभारत या रघुवंश काव्य के सन्दर्भ में इसी प्रकार की बात कही थी। उनका कथन है कि - महाभारत, गीता या हरिवंश पुराण में कृष्ण का चरित्र तृष्णाक्षय सुख का निष्पŸिादायक शान्त रस से ही परिपूर्ण है। यही नहीं महाभारत की भगवद्गीता का प्रधान रस 'शान्त रस' ही हो सकता है। लेकिन अंगी रस के परिपोषक में दूसरे रस या भाव एवं विरोधी भाव या रसों का विनियोग हो सकता है, इसलिए महाभारत का अंग स्वरुप गीता का प्रधान रस भी 'शान्त रस' हि होना चाहिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। शंकराचार्य की दृष्टि से गीता का प्रधान हेतु सर्व कर्म सन्यास का - ज्ञान का प्रतिपादन करना है, इसलिए संसार और जीवन के प्रति निर्वेद का भाव जगाकर उसे पुष्ट करके शान्त रस की निष्पत्ति करना यही गीता का प्रधान उद्देश है ऐसा अनुमान किया जा सकता है, लेकिन गीता में निर्वेद या उदासीनता को प्रेरनेवाला वचनों या वर्णन चाहे कितना भी क्यों न हो, अन्त में तो अर्जुन कहता है - 'स्थितोडस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।'२ विषाद से ग्रस्त अर्जुन श्रीकृष्ण की बात सूनकर यह उत्साहवर्धक उद्गार करता है। यह उद्गार हि दर्शाता है कि गीता उत्साह प्रधान और उत्साह प्रेरक ग्रन्थ है। इसी दृष्टि से सोचने से, काव्यदृष्टि से गीता में धर्मप्रधान वीर रस का निरुपण हुआ है यह कहा जा सकता है।

इसके अलावा गीता के ग्यारह में अध्याय में अद्भूत रस और भयानक रस को पुष्ट करनेवाली सामग्री विपुल प्रमाण में है। विश्वरुप दर्शन के आरम्भ में मिलता ईश्वर का दिव्य आभूषणो से मण्डित देदिप्यमान स्वरुप विस्मय को पोषता हुआ अद्भूत रस की जमावट करता है। लेकिन कुछ ही क्षणो में विश्वरुप दर्शन में अर्जुन ईश्वर के दंष्ट्राकराल मुखोमें पाण्डव - कौरव अग्रणी वीरो को होमते हुए , किसी को चूर्ण मस्तिष्क सहित विराट दाढ़ों में पाया हुआ देखते है। यहां जुगुप्सा को संचारीभाव के रुप में प्रयोग करके समग्र दर्शन में भयानक रस की पुष्टि की है। फलतः लाखों भक्तजनों को आकृष्ट करनेवाला इस ग्रन्थ को भक्तिप्रधान मानना ही उवित होगा।

इस तरह व्यास मुनि ने गीताग्रंथरूपी अपना इस विशेष प्रबंध महाभारत जैसे अपने काव्य के बीच रचा है। इस वस्तु को उन्हों ने संकल्पपूर्वक ही रचा होगा। अन्यथा व्यास जैसे आर्षदृष्टा ऋषि और लोककालश्रज्ञ प्रबंधकार हल्के हृदय से या अकारण तो ऐसे प्रबंध की रचना न करें।

निष्कर्ष

काव्य के बाहय और आंतरिक अंगो की परख के बिना काव्य के गुण या दोष का निष्कर्ष नहीं हो सकता। इसलिए यह जरुरी है कि किसी भी काव्य कृति की आलोचना कि जाय ताकि उसकी अनुपम सुंदरता की पहेचान या दोषदर्शन हो सकें। अलबत साहित्य सर्जन के व्यापार के साथ साथ साहित्य विवेचन व्यापार भी परस्पर जुड़े हुए हैं। विवेचन का अस्तिŸव कवि के मनःप्रदेश में पहले से ही विद्यमान होता हैं। गुजराती कवि कान्त ने ठीक ही कहा है कि 'सारे कवि विवेचक होता हैं। इसी वजह से साहित्य सर्जन प्रक्रिया मंे कलापक्ष अपने आप जूड़ जाते हैं।

गीता अर्थात् यगेश्वर श्रीकृष्ण के मुखकमल से गाया हुआ माधुर्य और सौन्दर्य का वांग्मय स्वरुप। गीता एक छन्दबद्ध कृति है, पद्यात्मक ग्रंथ है। गीता में गणछंद और अक्षरछंद - यह दो प्रकार के छंद का हि प्रयोग हुआ हैं।

भरत मुनि कृत केवल नव रसों को ही स्वीकारने से यह प्रश्न स्वभाविक हि होता है कि श्रीमद् भगवद्गीता का प्रधान रस कौन सा है ? इसी केन्द्रबिन्दु से सोचते हुए भगवद्गीता का प्रधान रस 'शान्त रस' ही हो सकता हैं। लेकिन अंगी रस के परिपोषक में दूसरे रस या भाव एवं विरोधी भाव या रसों का विनियोग हो सकता है, इसलिए महाभारत का अंग स्वरुप गीता का प्रधान रस भी 'शान्त रस' हि होना चाहिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। शंकराचार्य की दृष्टि से गीता का प्रधान हेतु सर्व कर्म सन्यास का - ज्ञान का प्रतिपादन करना है, इसलिए संसार और जीवन के प्रति निर्वेद का भाव जगाकर उसे पुष्ट करके शान्त रस की निष्पत्ति करना यही गीता का प्रधान उद्देश है ऐसा अनुमान किया जा सकता है, लेकिन गीता में निर्वेद या उदासीनता को प्रेरनेवाला वचनों या वर्णन चाहे कितना भी क्यों न हो, अन्त में तो अर्जुन कहता है - 'स्थितोडस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।' विषाद से ग्रस्त अर्जुन श्रीकृष्ण की बात सूनकर यह उत्साहवर्धक उद्गार करता हैं। यह उद्गार हि दर्शाता है कि गीता उत्साह प्रधान और उत्साह प्रेरक ग्रन्थ हैं। इसी दृष्टि से सोचने से, काव्यदृष्टि से गीता में धर्मप्रधान वीर रस का निरुपण हुआ है यह कहा जा सकता हैं।

इस तरह गीता न केवल एक धार्मिक ग्रन्थ मात्र है अपितु वह काव्यगुणों से आमतप्रोत रसभावयुक्त उत्तम कलाकृति भी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद् वांग्मयं मतम्। अग्निपुराण, ३३७/१ एवं संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। वही, ३३७/६*
2. *शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यादर्श, संपादकः रामचन्द्र मिश्र, पृष्ठ ९*
3. *शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। काव्यालंकार, १/१६, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज - ११०, संपा. डा. रामानंद शर्मा, २०१३*
4. *काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति। शब्दार्थशरीरं तावत् काव्याम्। सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव हि काव्यलक्षणम्। ध्वन्यालोक, १/१, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संपा. आचार्यचण्डिकाप्रसाद शुक्ल, ०००५*
5. *रीतिरात्मा काव्यस्य, विशिष्टा पदपचना रीतिः।चिशेषो गुणात्मा। काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दायोर्थवर्तते। काव्यालंकारसूत्राणि,*
6. *शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लदकारिणि। वक्रोक्तिजीवित, पृष्ठ १७*
7. *निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविःकुर्वन् कीर्तिं प्रतिं च विन्दति। सरस्वतीकण्ठाभरण, पृष्ठ ३*
8. *तददोषौ शब्दार्थौ सगुणवानलंकृती पुनः क्वापि। काव्यप्रकास, १/*
9. *रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रसगंगाधर, संपा. बद्रीनाथ झा - मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २५११*

छन्द - अलंकार योजनाः

1. *'इतिहासपुराणं पष्चमं वेदानां वेदम्'। छान्दोग्योपनिषद्, ७/१/२ (२) भ० गीता, ९/३२*
2. *अनुष्टुप छंदः-*
3. *(१) पिङ्गल० ५/११ (२) उपरिवत्, पिङ्गल० ५/१२ (३) उपरिवत्, /१५ (६) वृत्तरत्नाकर, ९/२२*
4. *(ग) उपजाति छन्दः-पिङ्गल० ५/१४*
5. *(४) उपरिवत्, पिङ्गल० ५/१२ (५) उपरिवत्, पिङ्गल० ५*
6. *(१) वृत्तरत्नाकर, ३/३१ (२) पिङ्गल० ६/२३ (३) भ० गीता, ९/२२*

अलंकार

1. *भ० गीता, १/२६ (२) भ० गीता, २/६७*
2. *रस निरुपणः-*
3. *डॉ० अग्रवाल दीपा, "संस्कृत साहित्यशास्त्र में भक्तिरस", ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृष्ठ ९*
4. *भ० गीता, १८. ७३*